शोध पत्रिका
2019
मूल्य : 100 रुपए

ISSN : 0974-7958

शोधश्री

संरक्षक :
डॉ. पी. के. कालड़ा
निदेशक, दयालबाग़ एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, आगरा

परामर्श :
प्रो. जे. के. वर्मा, डीन, कला संकाय
प्रो. शर्मिला सक्सेना, अध्यक्ष हिंदी विभाग

संपादक :
डॉ. प्रेमशंकर सिंह
डॉ. बृजराज सिंह

संपादन सहयोग :
डॉ. रंजना पांडे
अरविंद, पूजा यादव,
प्रीति, गुर प्यारी यादव

संपादकीय संपर्क :
हिंदी विभाग, दयालबाग़ एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, आगरा
ई-मेल : shodhshreedei@gmail.com
मोबाइल : 9838709090, 9415703379

दयालबाग़ एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, आगरा

प्रकाशक, मुद्रक दयालबाग़ एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग़, आगरा के लिए दयालबाग़ एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग़, आगरा से प्रकाशित और आर.के. ऑफसेट प्रोसेस, एम.-28, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित। संपादक : डॉ. प्रेमशंकर सिंह/डॉ. बृजराज सिंह

अनुक्रम

संपादकीय 3

भोजपुरी और राजस्थानी लोकगीतों की समान भाव भूमि / *डॉ. महीपालसिंह राठौड़* 4
केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' प्रणीत 'कैकेयी' महाकाव्य में नूतन उद्‌भावना / *डॉ. जयश्री बंसल* 10
प्रासंगिकता का सवाल और भक्ति काल / *डॉ. क्रान्ति बोध* 14
आधुनिकतावादी संत्रास के व्याख्याकार : विजयदेव नारायण साही / *मृत्यंजय* 19
मोहन राकेश के नाटकों में आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता की अभिव्यक्ति / *डॉ. पाण्डव कुमार* 24
राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' उपन्यास में दलित विमर्श / *मोनिका कुमारी* 30
बागड़ी समाज के रीति-रिवाज व विभिन्न रस्में / *डॉ. राजेन्द्र कुमार सेन* 33
शृंखला की कड़ियाँ : स्त्री-मुक्ति का दस्तावेज / *शुभम यादव* 40
समकालीन हिंदी कविता की भाषा संरचना / *ज्योति यादव* 43
राजस्थान में आजादी के बाद कला यात्रा / *डॉ. मोहन लाल जाट* 46
स्त्री विमर्श और महादेवी वर्मा का काव्य / *डॉ. कामिनी* 50
पद्मावत में लोकतत्व और भारतीय संस्कृति / *मंजू चौरसिया* 53
हिन्दी रंगालोचन का स्वरूप / *डॉ. अल्पना त्रिपाठी* 56
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की काव्ययात्रा / *डॉ. अवधेश त्रिपाठी* 64
दलित साहित्य की वैचारिक बहस के कुछ आयाम / *डॉ. दीपक सिंह* 74
हिन्दी कथा साहित्य में ग्राम / *डॉ.रंजना पाण्डेय* 79
ग़ालिब : आधुनिक चेतना / *डॉ. नमस्या* 84
मैत्रेयी पुष्पा के 'विज़न' उपन्यास में परिलक्षित स्त्री पुरुष संबंध / *अलका यादव* 87

संपादकीय

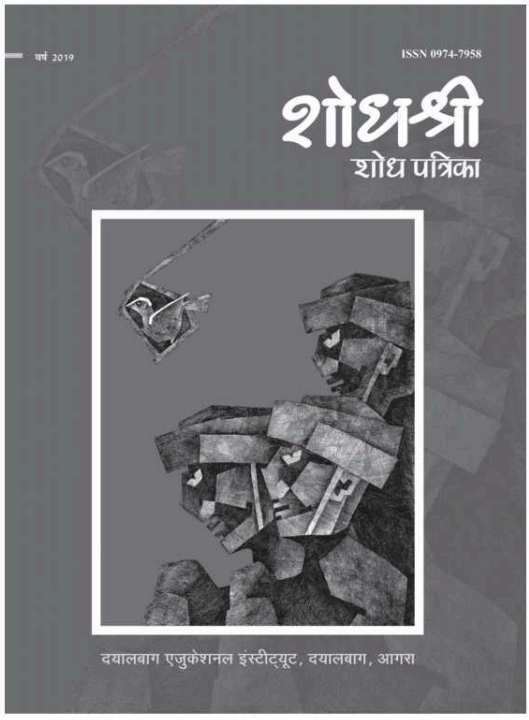

दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट की शोध पत्रिका शोधश्री का प्रकाशन 2009 में प्रारंभ हुआ था। इन 10 वर्षों में शोधश्री के कई महत्त्वपूर्ण अंक जैसे— दलित विमर्श एवं स्त्री विमर्श प्रकाशित और बहुप्रशंसित भी हुए हैं। अभी तक इसमें हिन्दी भाषा और साहित्य से संबंधित शोध आलेख प्रकाशित होते रहे हैं, इस अंक में हिंदी भाषा और साहित्य के साथ-साथ दूसरे अनुशासनों के भी कुछ शोध आलेख शामिल किए गए हैं। अगले अंकों में हमारी कोशिश रहेगी कि दूसरे अनुशासन जैसे— समाज विज्ञान, अभियांत्रिकी, वाणिज्य, शिक्षा, विज्ञान, आदि अनुशासनों के शोध आलेखों की संख्या बढ़ाई जाए। इन अनुशासनों के हिन्दी माध्यम में लिखे गए शोध आलेखों के लिए बेहतर जगह उपलब्ध कराना हमारी प्राथमिकता होगी। हिंदी के पाठकों या शोधार्थियों के लिए अन्य अनुशासनों की यह सामग्री सरलता से उपलब्ध हो, इसका प्रयास किया जाएगा। शोधश्री के माध्यम से हमारी कोशिश रहेगी कि शोधार्थियों को अवसर और जगह उपलब्ध हो सके। हम शोधश्री की गुणवत्ता उत्कृष्टता बनाए रखने का पूरा प्रयास करते हैं, मानविकी और कला संबंधित विषयों के लिए हिंदी माध्यम में उत्कृष्ट शोधों के लिए स्तरीय शोध पत्रिका का अभाव कभी कभी दिखाई देता है। इसके साथ ही शोधश्री दूसरे अनुशासनों के शोध आलेखों को भी हिंदी माध्यम में प्रकाशित और प्रसारित करने का एक माध्यम बने, हमारा ऐसा प्रयास रहेगा।

—प्रेमशंकर

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

दलित साहित्य की वैचारिक बहस के कुछ आयाम

डॉ. दीपक सिंह*

हिन्दी में दलित विमर्श की शुरुआत मोटे तौर पर अस्सी के दशक से मानी जा सकती है। पिछले लगभग तीस–पैंतीस वर्षों में इसने एक ठोस यात्रा तय की है। परंपरागत सामाजिक और साहित्यिक मूल्यों के साथ इसकी टकराहट ने वैचारिकी के क्षेत्र में गंभीर उथल–पुथल मचाई है। हिन्दी में बहुतेरे साहित्यिक आंदोलन हुए लेकिन संत साहित्य के बाद केवल दलित आंदोलन ऐसा है जिसने साहित्य और विमर्श की जमीन को पूरी तरह बदल कर रख दिया है। यह बात कहते हुए मैं न तो प्रगतिशील आंदोलन को भूल रहा हूँ और न ही निराला, प्रेमचंद्र, नागार्जुन जैसे रचनाकारों के योगदान को कम कर के आंक रहा हूँ। हर युग में साहित्य की जमीन बदली है उसके मूल्यांकन के औजार बदले हैं लेकिन दलित विमर्श जिस बदलाव की आकांक्षा को लेकर आगे बढ़ रहा है वह इन सबसे आगे की चीज है। दलित विमर्श की शुरुआत नकार से होती है, यहाँ साहित्य यश, सम्मान, आनंद, कल्याण के लिए न होकर संघर्ष के लिए है, बराबरी के हक के लिए है। दलित यथार्थ की परतें हमें उस संसार की तरफ ले जाती है जहां श्रम की अमानवीयता है, मरे हुए जानवर का मांस है, गोबर से बीने हुए गेहूं की रोटी है और न जाने कितना कुछ है। यह पूरी दुनिया लगभग अछूती रही थी थोड़ा बहुत प्रेमचंद और नागार्जुन जैसे संवेदनशील कलाकारों ने उसे छुआ था। मार्क्सवाद के प्रभाव में बहुत सारे साहित्यकारों ने मजदूर मेहनतकश जनता को साहित्य के केन्द्र में ला खड़ा किया। इन साहित्यकारों ने श्रम के सौंदर्य को महिमा मंडित किया, सामंतवाद पूंजीवाद के खिलाफ संघर्ष की आवाज को बुलंद किया मतलब वर्गसंघर्ष केा अपने साहित्य सृजन का आधार बनाया। हिन्दी क्षेत्र के लिए यह बड़ी परिघटना थी लेकिन साहित्य की यह धारा भी श्रम की अमानवीयता तक नही पहुंच सकी, जातीय उत्पीड़न से उपजी हजारों पीड़ाओं को स्वर देने में नाकाम ही रही। यही वह कारण है कि दलित साहित्य ने सबसे पहले स्वानुभूति के आधार पर स्वयं को साहित्य की अन्य धाराओं से अलगाया तथा स्व और अन्य की जो बहस ज्योतिबा फुले और अंबेडकर के यहाँ शुरू हुई थी उसी को आधार बनाकर अपनी अस्मिता व पहचान को निर्मित किया।

हिन्दी क्षेत्र मे दलित साहित्य के उभार के साथ ही कई और घटनाएँ घट रहीं थी एक तरफ मण्डल कमीशन की सिफारिशों के खिलाफ उग्र सवर्ण आंदोलन था तो दूसरी ओर उग्र धार्मिकता के जरिए सांप्रदायिक माहौल बनाया जा रहा था और इन्हीं सब के बीच भारत में वैश्वीकरण और उदारीकरण का घोड़ा भी प्रवेश कर चुका था। कहने का मतलब दलित वैचारिकी का रास्ता आसान नहीं था उस पर इन तमाम परिघटनाओं का गहरा असर पड़ा है और इसे लेकर दलित साहित्य में गंभीर बहस भी छिड़ी है। दलित साहित्य के साथ सबसे शानदार बात यह रही कि इसने कभी बहस से किनारा नहीं किया बल्कि हर सवाल पर गहरे विमर्श को जन्म दिया मसलन अंग्रेज न आए होते तो दलितों का क्या होता ? बाजार और दलित मुक्ति, दलित कौन है ? राष्ट्र, धर्म, जैसे मुद्दों के साथ–साथ दलित साहित्य क्या है ? कौन लिख सकता है ? आदि–आदि। यहाँ पर हम मुख्य रूप से दो बहसों को देखने का प्रयास करेंगे पहला दलित विमर्श में मौजूद स्व और अन्य की परिकल्पना और दूसरा दलित साहित्य कौन लिख सकता है ?

सबसे पहले हम यह देखने का प्रयास करते है कि दलित कौन ? यह दलित विमर्श की आधारभूत बहस है शब्दकोशीय अर्थ के अनुसार दलित शब्द का आशय है—जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ,

सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), शा. नवीन महाविद्यालय, खड़गवां, जिला कोरिया (छ.ग.)
मोबाइल : 7587305846
ई–मेल : deepak8768@gmail.com

गिराया हुआ, उपेक्षित घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनष्ट, मर्दित, पस्तहिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।''[1] यहाँ दलित शब्द का बहुत ही व्यापक अर्थ लिया गया है जिससे समकालीन संदर्भ में दलित शब्द की समुचित परिभाषा निश्चित नहीं की जा सकती। दलित चिंतक कंवल भारती ने दलित शब्द के समकालीन संदर्भ को व्याख्यायित करते हुए लिखा है— दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया। जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर अछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की। वही और वही दलित है और इसके अंतर्गत वही जातियाँ आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।''[2]

दलित अस्मिता के निर्माण हेतु 'अन्य' का निर्धारण आवश्यक है क्योंकि बिला अन्य के निर्धारण के स्व को परिभाषित नहीं किया जा सकता। दलित वैचारिकी में अन्य के निर्धारण की बहस ऐतिहासिक संदर्भ लिए हुए है। ज्योतिबा फुले और अंबेडकर ने शूद्र कौन हैं? इसकी व्यापक पड़ताल की है। महात्मा फुले ने स्व को निर्धारित करने के क्रम में ब्राह्मण संस्कृति को अन्य बताया। फुले द्वारा किए गए इस अन्यकरण के कई पहलू उभरकर सामने आते हैं, एक तो ब्राह्मणों से इतर बाकी समस्त भारतीय समाज के लोग एक से माने गए। दूसरी ओर ब्राह्मणों को आर्य बताकर अनार्य अस्मिता को परिभाषित किया गया, इसी की अगली कड़ी में उन्हें ईरान से आया विदेशी कहकर देशी अस्मिता को परिभाषित करने का प्रयास किया गया। इसमें एक पहलू और जुड़ता है जिसका संबंध श्रम से है, ब्राह्मण दूसरे या अन्य इसलिए भी हैं क्योंकि वे स्वयं श्रम नही करते बल्कि अन्य लोगों के श्रम पर पलतें हैं। ऐसे में परजीवी और श्रमशील जातियों का अंतर्विरोध भी यहाँ देखा जा सकता हैं। स्पष्ट है कि फुले गैरब्राह्मण, अनार्य, देशी, श्रमजीवी के रूप में आत्म पहचान या अस्मिता को परिभाषित करते हैं जो हजारों साल के शोषण और दमन के विरूद्ध है। अंग्रेज भी अन्य हैं लेकिन स्व परिभाषा के लिए उनकी अन्यता का कोई महत्व नहीं है। अन्यकरण उसका किया जाता है जो भीतर का हो, नजदीक हो, और अब तक एक ही स्व का हिस्सा रहा हो। अन्यकरण एक सायास, सचेत प्रक्रिया है। अंग्रेजों का बाहरीपन या उनकी अन्यता भारत के किसी भी समुदाय के लिए स्वत: सिद्ध चीज थी इसलिए सामुदायिक अस्मिता के निर्माण में इसका कोई उपयोग नहीं था किन्तु ब्राह्मण जो कि एक ही विराट देशी समुदाय के अंग थे उनका अन्यकरण शूद्रों, अतिशूद्रों की अस्मिता निर्माण के लिए आवश्यक था। गुलामगीरी में फुले संवाद के माध्यम से कहते हैं—''जोतीराव: वास्तव में हर दृष्टि से सोचने के बाद हम इस निर्णय पर पहुंचते है कि ब्राह्मण लोग समुद्र पार जो इराण नाम का देश है, वहॉ के मूल निवासी हैं। पहले जमाने में उन्हें इराणी या आर्य कहा जाता था। इस मत का प्रतिपादन कई अंग्रेज ग्रंथकारों ने उन्हीं के ग्रन्थों के आधार पर किया है।''[3] इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए वे ब्राह्मणों के उत्पत्ति की विस्तृत व्याख्या करते हैं। तथा ब्राह्मणों द्वारा असुर करार दिए गए राजा बली आदि को वास्तविक नायक घोषित करते हैं। श्रम के आधार पर ब्राह्मणों का अन्यकरण करते हुए ब्राह्मणों की चालाकी में फुले कहते हैं—

''कैसा तेरा धर्म। समझने दे मर्म।।
भिक्षा शूद्र की ही खाते हो।
किसकों अपना खास धर्म कहते हो।
छोड़ो गर्व को। लग जा मार्ग को।।
ज्ला दें इस झूठे धर्म को।
संभाला बहुत एकता को।''[4]

डॉ. अंबेडकर भी फुले द्वारा शुरू की गई ब्राह्मणों के अन्यकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं लेकिन वे आर्य और अनार्य की फुले द्वारा निर्मित कोटि से सहमति नहीं रखते तथा उन्हें विदेशी भी नही मानते। अंबेडकर शूद्रों को आर्य मानते हैं लेकिन वर्ण व्यवस्था में चौथे पायदान पर होने तथा उनकों अनेक सामाजिक कार्यों से च्युत करने का दोषी ब्राह्मणों को ही मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि शूद्रों को चौथे पायदान पर धकेलने के बाद ब्राह्मणों ने अनेक धर्म ग्रन्थों के माध्यम से ऐसी व्यवस्था बनाई जिससे उनके मनुष्य होने का अधिकार जाता रहा। अंबेडकर आगे चलकर 'हिन्दू परंपरा' कहकर संबोधित करते है तथा शूद्रों के बरअक्स 'अन्य' के रूप में इसको रेखांकित करते हैं। इस रेखांकन के क्रम में वे हिन्दू देवी-देवताओं और शूद्रों के देवताओं के बीच फर्क को भी आधार बनाते है। अंबेडकर के यहाँ दलित अस्मिता के निर्धारण में हिन्दू परंपरा का 'अन्यकरण' बहुत ही महत्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु है और शायद इसीलिए वे 1956 में बौद्ध धर्म ग्रहण कर एक बड़ा संदेश देने का प्रयास करते हैं। डॉ. अंबेडकर इस बात को जानते थे कि हिन्दू परंपरा का अन्यकरण किए बिना दलित मुक्ति की लड़ाई नही लड़ी जा सकती।

वर्तमान संदर्भों में देखें तो दलित साहित्य फुले और अंबेडकर द्वारा निर्मित इसी वैचारिकी को लेकर आगे बढ़ता हैं। वह अपनी दासता का आदि कारण ब्राह्मणों को ही मानता

है और इतना ही नहीं ब्राह्मणवादी व्यवस्था का अंत होने तक संघर्षरत रहने की घोषणा भी करता है। मलखान सिंह अपनी कविता 'सुनो ब्राह्मण' में कहते हैं—

हमारी दासता का सफर
तुम्हारे जन्म से शुरू होता है
और इसका अंत भी
तुम्हारे अंत के साथ होगा।''[5]

इसी कविता के अगले भाग में मलखान सिंह ब्राह्मणों को चुनौती देते हुए कहते हैं—

एक दिन
अपनी जनानी को
हमारी जनानी के साथ
मैला कमाने भेजो।
तुम मेरे साथ आओ
चमड़ा पकाएंगे दोनो मिल बैठ कर।
... ...
तभी जान पाओगे तुम
जीवन गंध को
बलवती होती है
जो देह की गंध से''[6]

मलखान सिंह की कविता को दलित साहित्य के भीतर 'स्व' और 'अन्य' को परिभाषित करने वाले रूपक के बतौर देखा जा सकता हैं। दलित साहित्यकारों ने स्व और अन्य के बोध को बहुत गहराई से आत्मसात किया है जिसकी अभिव्यक्ति दलित कहानियों, आत्मकथाओं और कविताओं में व्यापक रूप से हुई है।

दलित साहित्य है क्या? इसे कौन लिख सकता है? इन प्रश्नों पर हमें एक लंबी बहस देखने को मिलती है। स्व और अन्य के मुहावरे में देखें तो भी हमें सचेत अन्यकरण दिखाई पड़ता है। दलित चिंतक दलित चेतना, स्वानुभूति, भोगा हुआ यथार्थ जैसी कोटियों के माध्यम से अब तक रचे गए साहित्य से अपना स्पष्ट अलगाव घोषित करते हैं- ''साहित्य उसके लिए कल्पनाओं की विस्तृत ऊँचाई है, जहाँ खड़े होकर कल्पना के बलबूते पर वह तमाम दुनिया के यथार्थ को देख लेने की क्षमता का भ्रम पाले हुए है।''[7] अपने अलगाव को स्पष्ट करने के क्रम में लगभग सभी दलित चिंतक साहित्य को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। कंवल भारती ने दलित साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखा है दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा हैं, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला नहीं, बल्कि जीवन और जिजीविषा का साहित्य है। इसलिए कहना न होगा कि दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता है।''[8] यहाँ हमें अलगाव के साथ लगाव के भी कुछ सूत्र मिलते है 'कला कला के लिये नहीं' प्रगतिशील आंदोलन के मुख्य नारों में एक था और शायद यही कारण है कि दलित विमर्श प्रगतिशील आंदोलन के साथ गंभीर बहस में उतरता है। इस बहस को यहीं छोड़ दे तो हम पाते है कि भोगे हुए यथार्थ का वर्णन ही अलगाव का केन्द्रीय तथ्य है। अब सवाल यह उठता है कि क्या दलित जाति में जन्मा कोई भी व्यक्ति यदि वह भोगे हुए यथार्थ का वर्णन करता है तो उसे दलित साहित्य मान लिया जाएगा? इस प्रश्न का उत्तर दलित साहित्य ने अपने आन्दोलनात्मक इतिहास में ढूंढा है और साफ तौर पर रेखांकित किया है कि दलित की व्यथा, दुख, पीडा, शोषण का विवरण देना या बखान करना ही दलित चेतना नहीं है, या दलित पीड़ा का भावुक और अश्रु विगलित वर्णन, जो मौलिक चेतना से विहीन हो, चेतना का सीधा संबंध दृष्टि से हेाता है जो दलित की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक भूमिका के तिलिस्म को तोड़ती है, वह है दलित चेतना।''[9] दरअसल दलित साहित्य का संबंध अंबेडकर वाद द्वारा निर्मित उस चेतना से है जो विद्रोह और नकार को लेकर आगे बढ़ती है। यह चेतना दलितों को अपनी दुर्दशा के मानवकृत कारण को समझने में मदद करती है और उसे आत्म बोध के उस स्तर पर ले जाती है जहां से वह तथाकथित सभ्य समाज को प्रश्नांकित करने का ज्ञानात्मक बोध अर्जित करता हैं। स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व जैसे मूल्यों की उसकी मांग और उसके लिए संघर्ष इसी ज्ञानात्मक निर्मिति का प्रतिफलन है।

दलित साहित्य केवल दलित ही लिख सकता है यह बात एक ऐतिहासिक विचारक्रम की उपज है। यह कोई एका-एक प्रकट हुआ नारा नहीं था बल्कि इसके पीछे एक सुचिन्तित राजनीति काम कर रही थी और इस राजनीति की यह सफलता ही कही जाएगी उसने आंदोलन की बागडोर अपने हाथों में रखी। तमाम आरोपों-प्रत्यारोपों को झेलते हुए विमर्श और राजनीति के नाजुक संतुलन को साध कर आज वह बेहतर विश्लेषण व आत्मविश्लेषण की ओर बढ़ चुका है। बहरहाल हिन्दी में

दलित साहित्य को लेकर मुख्यत: तीन तरह की प्रतिक्रियाएँ देखने को मिलती हैं। एक तो यह कि साहित्य दलित अदलित नहीं होता। कई बार यहाँ तक कहा जाता है कि साहित्य ही दलित होता है इसलिए साहित्य सृजन में दलित-अदलित जैसा प्रश्न बेमानी है। यह वह धारा है जो छिपे ढंग से दलित साहित्य को ही नकार देना चाहती है। इस पर मराठी साहित्यकार शरण लिबांले प्रश्न उठाते हुए लिखते है संत साहित्य के संदर्भ में प्राचीन से अर्वाचीन काल तक साहित्य संत हो सकता है? ऐसा प्रश्न कभी भी उपस्थित नहीं हुआ। लेकिन दलित साहित्य के संदर्भ में केवल साहित्य दलित होता है ऐसा प्रश्न उपस्थित होते हुए दीख पड़ता है। साहित्य दलित नहीं होता पर दलितों का साहित्य हो सकता है क्योंकि दलित जाति-जमात यहाँ की धर्म व्यवस्था में से पैदा हुई, तुम श्रेणी बद्ध समाज व्यवस्था जारी रखोगे, ऊंच-नीच भाव परोसते रहोगे और दलित साहित्य ऐसा न कहे, ऐसा आग्रह करते रहोगे यह कैसे होगा?''[10] दूसरी धारा स्वयं दलित साहित्यकारों की है जिसमें लगभग इस बात का एका है कि दलित साहित्य दलित ही लिख सकता है। कुछ थोडे विरोधी स्वर भी है लेकिन वे दलित साहित्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते। तीसरी तरह की प्रतिक्रिया दलित साहित्य को स्वीकार करती है और उदारतापूर्वक उसका स्वागत भी करती है लेकिन इस धारा में दो तरह के मत देखने को मिलते हैं। कुछ लोग अनुभव से उपजे साहित्य को सच्चा दलित साहित्य मानने के पक्षधर हैं तो दूसरे वे है जो इस तरह के विभाजन को उचित नहीं मानते। इन दोनों धाराओं के प्रतिनिधित्व के तौर पर हम मैनेजर पाण्डेय तथा नामवर सिंह को देख सकते हैं। मैनेजर पाण्डेय ने स्वानुभूति पर बल देते हुए लिखा है जहां तक दलित साहित्य की अवधारणा की बात है तो दलित साहित्य को दो रूपों में देखा जा सकता है। एक तो दलितों के द्वारा दलितो के बारे में दलितों के लिए लिखा गया साहित्य और दूसरा दलितों के बारे में गैर-दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य। मेरे विचार में करूणा और सहानुभूति के सहारे गैर दलित लेखक भी दलितों के बारें मे अच्छा सहित्य लिख सकतें है लेकिन दलित साहित्य वही हैं, जो दलितों द्वारा अपने बारे में या सवर्ण के बारे में लिखा जाता है, क्योंकि ऐसा साहित्य सहानुभूति या करूणा से नहीं, बल्कि स्वानुभूति से उपजा होता है।''[11] नामवर जी भी इस बात को मानते है दलित होना व्यक्ति की ऐसी हकीकत है और अनुभव है कि जो दलित होने के कारण उसे जिन चीजों से गुजरना पड़ता है उसका प्रत्यक्ष अनुभव स्वयं दलित को जैसा है, वह अपनी पूरी अनुभूतियों व अपनी कल्पना का विस्तार करने के बावजूद मैं जो गैर दलित हूँ, उस अनुभव की तीव्रता और तनाव को मैं अपने आप को अनुभव नहीं करा सकता।[12] लेकिन इसके साथ ही नामवर जी यह कहते है कि साहित्य में आरक्षण नहीं होता। ओमप्रकाश वाल्मीकि नामवर जी की इस अवधारणा को नेतृत्व के संकट से जोड़ते हैं, जिसके पीछे उनकी अपनी राजनीतिक समझ हैं। दलित राजनीति और दलित साहित्य दोनों का वामपंथ के साथ नेतृत्व को लेकर एक बड़ा मतभेद है। दलित साहित्य ने वामपंथ के सामने हमेशा यह सवाल खड़ा किया है कि आज तक भारत में वामपंथ के भीतर दलित नेतृत्व क्यों नहीं पैदा हो सका? और इसी नजरिए से वह इस धारा को ज़्यादा ख़तरनाक मानता है, उसे लगता है कि यह धारा कहीं न कहीं दलित आन्दोलन का अगुआ सवर्णों को ही स्वीकार करती है।

भोगे हुए यथार्थ को प्रश्नांकित करते हुए अक्सर एक सवाल उठाया जाता है कि दलित साहित्य की अब तक की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि आत्मकथाएं ही हैं, तो क्या किसी एक व्यक्ति का अनुभव पूरे समाज का अनुभव हो सकता हैं? और इस बात का उत्तर तब और दिक़्क़त तलब हो जाता है जब दलित वर्ग का अभिव्यक्ति सम्पन्न तबका स्वयं ही अपने समाज से ख़ुद को काट लेता है, तो फिर अतीत की स्मृति ही उसके धरोहर के रूप मे बची रह जाती है। फिलहाल यदि यह मान लिया जाता है कि वह भोगे हुए अतीत की स्मृति ही है, तब भी दलित समाज में जो पीड़ा व्यक्तिगत है कमोबेश वह सामाजिक भी है ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते है दलित रचनाकार अपने परिवेश एवं समाज के गहरे सरोकारों से जुड़ा है। वह अपने निजी दुखों से ज़्यादा समाज की पीड़ा को महत्ता देता है। जब वह मैं शब्द का प्रयोग कर रहा होता है तो उसका अर्थ हम ही होता है, सामाजिक चेतना उसके लिए सर्वोपरि है, अपने समाज के दुख दर्द उसे ज़्यादा पीड़ा देते है। उनके उन्मूलन के लिए ही उसने लेखन का रास्ता चुना है। अपनी अभिव्यक्ति में वह समाज की पीड़ा उकेर रहा है इसलिए वह ज़्यादा प्रामाणिक है।''[13] फिलहाल दलित जीवन की स्थितियों को देखते हुए इस बात से पूरी तरह सहमत हुआ जा सकता है। दलित साहित्य को लेकर हिन्दी जगत में चली इस व्यापक बहस को वीर भारत तलवार ने ऐतिहासिकता के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है दलितों के साथ सहानुभूति होने और प्रगतिशील विचारधारा होने की वजह से कुछ लेखकों ने कहा कि दलित साहित्य हम लोग भी लिखते रहें हैं। पर यह गौरतलब है कि हिन्दी में दलित साहित्य की आवाज एक आंदोलन के रूप में पहली बार दलित लेखकों ने उठाई। आज

भी इसके लिए चल रहे संघर्ष में उन्हीं का हाथ सबसे ज़्यादा है और होना भी चाहिए। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी यह बात सही है कि दलित साहित्य दलित जाति से आए लेखकों का साहित्य हैं। आज के दलित साहित्य को इसी ऐतिहासिकता के संदर्भ में देखा जाना चाहिए।''[14] आज दलित साहित्य वेदना और नकार से आगे बढ़कर विश्लेषण के चरण में पहुंच चुका है और यह मानने को तैयार है कि साहित्य सृजन के कई स्रोत हो सकते हैं। इस संदर्भ में गंगाधर पानतावडे से बजरंग तिवारी की बात-चीत का उल्लेख किया जा सकता है पानतावाड़े जी साहित्य के तीन स्रोत मानते हैं—1. स्वयं जानकर, भोगकर प्राप्त किया गया अनुभव 2. दूसरे को देख कर, समझकर संवेदना के जरिये प्राप्त ज्ञान, अप्रत्यक्ष अनुभव तथा 3. कल्पना करके। कल्पना का सच से कोई सीधा रिश्ता नहीं होता। बाकी दो को पानतावड़े जी जाणीव तथा सहजाणीव कहते है: 'जाणीव से ही साहित्य रचा जा सकता है। लेकिन सहजाणीव (संवेदना) का साहित्य झूठा नही होता। वह भी सच है लेकिन अनुभव के ताप से रहित। प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि का यही फर्क समझना चाहिए।''[15]

दलित साहित्य के भीतर सहानुभूति की जगह स्वानुभूति, शिल्प और कला की जगह अंतर्वस्तु की प्राथमिकता, मनोरंजन या आनंद की जगह संघर्ष और पीड़ा का घोष उसे एक क्रांतिकारी स्वर प्रदान करता है। साहित्य के बने-बनाए ढांचे में दलित साहित्य को जगह मिलनी संभव नहीं थी उसे अपनी जमीन ख़ुद ही तैयार करनी थी अत: उसे अन्य से अलग होना भी था और दिखना भी था। शायद इसीलिए उसका आरंभिक स्वर बहुत ही ज़्यादा आक्रामक दिखाई पड़ता है। आज की स्थिति में दलित साहित्य एक मजबूत परिवर्तनकामी धारा के रूप में अपनी अलग पहचान स्थापित कर चुका है। इस समय वह बेहतर व्याख्या-विश्लेषण व आत्मालोचन की स्थिति में है। कई दलित चिंतकों ने अन्य परिवर्तन कामी धाराओं के साथ मजबूत एका बनाकर एक साझा संघर्ष खड़ा करने की वकालत की है। वर्ग और वर्ण का द्वंद धुल कर जय भीम कामरेड तक पहुंच गया है। मुक्त चिंतन और अभिव्यक्ति से लेकर खाने की आजादी की हत्या के इस दौर में दलित साहित्य और चिंतन भी एक ऐतिहासिक मोड़ पर खड़ा है। दरअसल यह नई जिम्मेदारियां और नए सोपान तय करने का दौर है। दलित साहित्य के अब तक के विकास क्रम को देखते हुए यह उम्मीद की जा सकती है कि जल्द ही वह संघर्ष के नए क्षेत्रों में प्रवेश करेगा।

संदर्भ-सूची

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि: दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 2001 पृ. 13
2. कंवल भारती: युद्धरत आम आदमी (अंक 41-42) 1998 पृ. 41
3. सं. एल.जी. मेश्राम, विमलकीर्ति, महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली (1) (गुलामगीरी) राधाकृष्ण प्रकाशन, संशोधित संस्करण 1996 पृ. 152
4. सं. एल.जी. मेश्राम, विमलकीर्ति, महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली (ब्राह्मण की चालाकी) राधाकृष्ण प्रकाशन, संशोधित संस्करण 1996 पृ. 101
5. सं. कंवल भारती: दलित निर्वाचित कविताएं, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद 2006 पृ. 48
6. वही पृ. 49
7. ओमप्रकाश वाल्मीकि: दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 2001 पृ. 39
8. कंवल भारती : युद्धरत आम आदमी (अंक 41-42) 1998 पृ. 41
9. ओमप्रकाश वाल्मीकि: दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 2001 पृ. 28-29
10. सं. चमनलाल: दलित अश्वेत साहित्य कुछ विचार, भारतीय उच्च संस्थान शिमला 2001 पृ. 23
11. सं. सदानंद शाही: दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, प्रेमचंद साहित्य संस्थान, गोरखपुर 2005 पृ. 52
12. वही पृ. 192
13. ओमप्रकाश वाल्मीकि: दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 2001 पृ. 40
14. सं. चमनलाल: दलित अश्वेत साहित्य कुछ विचार, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला 2001 पृ. 45
15. बजरंग बिहारी तिवारी: दलित साहित्य एक अंतर्यात्रा, नवारूण प्रकाशन, 2015 पृ. 24